

## भारतीय आचार साहित्य की परम्परा

डॉ० सुनिल कुमार सिंह\*

भारतीय संस्कृति में मुख्यतः दो विचारधाराओं का सम्मिश्रण एवं समन्वय किया गया है। एक विचारधारा मूलतः वैदिक सभ्यता की थी और दूसरी श्रमण सभ्यता वैदिक सभ्यता के आधार स्तम्भ ऋग्वेद आदि संहिता ग्रन्थ तथा ब्राह्मण ग्रन्थ थे। श्रमण सभ्यता की प्रतिनिधि अभिव्यक्ति जैनधर्म, हिन्दुओं के सांख्य दर्शन तथा बौद्ध धर्म में हुई है। कुछ लोग वैदिक अथवा ब्राह्मण संस्कृति अर्थ वह संस्कृति जिस पर ब्राह्मण पुरोहितों का विशेष रूप से प्रभाव था और श्रमण संस्कृति के भेद को स्वीकार नहीं करते, किन्तु मानना ही होगा कि इन दो विचारधाराओं में पर्याप्त विषमता थी।

संहिता-कला में आर्य मुख्यतः प्रवृत्तिवादी जीवन दृष्टि के अनुगामी थे, जबकि जैन-बौद्ध-धर्मों निवृत्तिपरक जीवन पर गौरव था। स्वयं वैदिक आर्यों के बीच निवृत्ति धर्म का उदय उपनिषदों में देखा जा रहा है। इसलिए कुछ अन्वेषकों का विचार है कि निवृत्तिपरक जीवनदृष्टियों का सामान्य उत्स उपनिषद्- साथ है। किन्तु जैन-धर्म की प्राचीनता और महाभारत आदि में सांख्यों के ज्ञानमार्ग एवं प्रवृत्तिपरक वैदिक धर्म के विरोध की चर्चाएँ यह संकेत देती हैं कि शान्ति और निवृत्ति के पोषक-दर्शनों का विकास भिन्न समुदायों के बीच हुआ है।

भारतीय आध्यात्मिक दृष्टि का प्रमुख विशेषता मोक्षतत्व की स्वीकृति और उसके संबंध में व्यवस्थित चिन्तन है; ये दोनों ही हमें मुख्यतः श्रमण-संस्कृति के धार्मिक नेताओं से प्राप्त हुई। आगे चलकर कलान्तर में जब ये हमारी संस्कृति में प्रवृत्ति एवं निवृत्तिपरक विचारधाराओं का समन्वय हुआ, तो यह निश्चित किया गया है कि मनुष्य जीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष ही है, जिसकी उपलब्धि अनेक मार्गों से चलकर की जा सकती है। मनु आदि धर्माचार्यों ने वर्णाश्रम की कल्पना की और यह प्रतिपादित किया कि प्रत्येक मनुष्य स्वधर्म का पालन करते हुए मोक्ष नामक चरम लक्ष्य की ओर अग्रसर हो सकता है। गीता में कहा गया है— 'स्वे—स्वे कर्मण्य मिरतः ससिलभते नरः' अर्थात् अपने—अपने वर्ण और आश्रम के अनुरूप (निष्काम भाव से) कर्म करता हुआ मनुष्य परम सिद्धि यानी मोक्ष को प्राप्त करता है। गीता, मनु आदि का यह मन्तव्य प्रवृत्ति एवं निवृत्ति मार्गों का समन्य रूप था।

जैन और बौद्ध धर्मों ने वर्णाश्रम के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया। इनमें बौद्ध धर्म मुख्यतः भिक्षुओं का निवृत्तिपरक धर्म बन गया। किन्तु जैन धर्म ने, हिन्दू धर्म की भाँति गृहस्थों के लिए भी मुक्ति का द्वार खुला रखा अर्थात् जैन धर्म समस्त

श्रमण धर्म के साथ—साथ श्रावकों यानी गृहस्थों के धर्माचार का भी व्यवस्थित वर्णन है। इसके सम्बन्ध में डॉ० मोहन लाल मेहता सामान्यतः भारतीय दर्शन के और विशेषतः जैन दर्शन के अधिकारी का विद्वान है। जो जैन दर्शन, जैन मनोविज्ञान आदि विषयों पर अनेक प्रमाणिक कृतियों का प्रणयन कर चुके हैं। उन्होंने 'जैन आचार' में श्रावक धर्म तथा श्रमण धर्म का विस्तृत एवं विशद विवेचन किया है। यों तो भारत के सभी धर्मों में विचारों एवं आचरण के सामंजस्य पर गौर किया गया है, किन्तु जैन दर्शन में यह गौरव अधिक स्पष्ट सांख्य और अद्वैत वेदान्त के अनुयायी यह कह सकते हैं कि केवल ज्ञान से मुक्ति हो सकती है, किन्तु जैन धर्म यह स्पष्ट घोषणा करता है कि सम्यक् ज्ञान—सम्यक् दर्शन एवं सम्यक् चरित्र— ये तीनों मिलकर ही मोक्ष नामक परिणाम को उत्पन्न करते हैं।

जैन दर्शन शास्त्र पर प्रकाशित उपर्युक्त कृति के समान ही प्रस्तुत ग्रन्थ जैन आचार शास्त्र पर अपने ढंग की एक विशिष्ट कृति है। इसका निर्माण इस ढंग से किया गया कि भारतीय धर्म व दर्शन का सामान्य परिचय रखनेवाला जिसे इसे सरलता से समझा सकेगा।

जैन आचार कर्मवाद पर प्रतिष्ठित है। कर्मना का आधार आत्मवाद है। आत्मवाद का पोषण करनेवाला तत्व है अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त दृष्टि।

जैन आचार शास्त्र में चारित्र-विकास अर्थात् आभिक विकास की विभिन्न अवस्थाएँ स्वीकार की गई हैं। आभिक गुणों के विकास की इन अवस्थाओं को गुण स्थान कहा गया है। गुणस्थान का निरूपण मोह शक्ति की प्रबलता—दुर्बलता के आधार पर किया गया है।

जैन आचार दो रूपों में उपलब्ध होता है— श्रावकाचार और श्रमणाचार। जैन आचार शास्त्र में वर्णाश्रम जैसी कोई व्यवस्था मान्य नहीं है। किसी भी वर्ण का एवं किसी भी आश्रम में स्थित व्यक्ति श्रावक के अथवा श्रमण के ब्रत को ग्रहण कर सकता है। श्रावक देशविरति अर्थात् आंशिक वैराग्य के कारण अपुन्त्रतों अर्थात् छोटे ब्रतों का पालन करता है। श्रमण सर्वविरति अर्थात् सम्पूर्ण वैराग्य के कारण महाब्रतों का अर्थात् बड़े ब्रतों का पालन करता है। आचारांगादि जैन आगमों के आधार पर श्रावकाचार एवं श्रमणाचार का सुव्यवस्थित प्रतिपादन किया गया है।

जैनाचार की भूमिका निम्न प्रकार है— (1) आचार और विचार (2) वैदिक दृष्टि (3) औपनिषदिक रूप (4) सूत्र, स्मृतियाँ व धर्मशास्त्र (5) कर्ममुक्ति (6) आत्मविकास (7) कर्मपथ (8) जैनाचार और जैन विचार (9) कर्मबन्ध व कर्ममुक्ति (10) आत्मवाद (11) अहिंसा और अपरिग्रह (12) अनेकान्तदृष्टि।

(1) आचार और विचार — आचार और विचार परस्पर सम्बद्ध ही नहीं, एक

दूसरे के पूरक भी है। विश्व में जितनी भी ज्ञान-शाखाएँ हैं, किसी न किसी रूप में आचार अथवा विचार अथवा दोनों से सम्बद्ध हैं, जुड़े हुए हैं। व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए ज्ञान-शाखाएँ अनिवार्य हैं जो विचार का विकास करने के साथ ही साथ आचार को भी गति प्रदान करें। दूसरे शब्दों में यदि यह कहा जाये कि जिन विधाओं में आचार व विचार, दोनों के बीच मौजूद हों वे ही व्यक्तित्व का वास्तविक विकास कर सकती है। अर्थात् जब तक आचार को विचारों का सहयोग प्राप्त न हो अथवा विचार आचार रूप में परिणत न हों तब तक जीवन का यथार्थ विकास नहीं हो सकता। इसी दृष्टि से आचार और विचार को परस्पर सम्बद्ध एवं पूरक कहा जाता है।

विचारों अथवा आदर्शों का व्यावहारिक रूप आचार है। आचार की आधारशिला नैतिकता है। जो आचार नैतिकता पर प्रतिष्ठित नहीं है वह आदर्श आचार नहीं कहा जा सकता तथा ऐसा आचार त्याज्य है। समाज में धर्म की प्रतिष्ठा इसिलिए है कि वह नैतिकता पर प्रतिष्ठित है। वास्तव में धर्म की उत्पत्ति मनुष्य के भीतर रही हुई उस भावना के आधार पर ही होता है जिसे हम नैतिकता कहते हैं। नैतिकता का आदर्श जितना उच्च होता है, धर्म की भूमिका भी उतनी ही उन्नत होती है। नैतिकता केवल भौतिक अथवा शारीरिक मूल्यों तक ही सीमित नहीं होती। इसकी दृष्टि में आध्यात्मिक अथवा मानसिक मूल्यों का बहुत महत्व होता है। संकुचित अथवा सीमित नैतिकता की अपेक्षा विस्तृत अथवा अपरिमित नैतिकता अधिक बलवती होती है। वह व्यक्तित्व का यथार्थ एवं पूर्ण विकास करती है।

धर्म का सार आध्यात्मिक सर्जन अथवा आध्यात्मिक अनुभूति है। इस प्रकार के सर्जन अथवा अनुभूति का विस्तार ही धर्म का विकास है। जो आचार इस उद्देश्य की पूर्ति में सहायक हो वही धर्ममूलक आचार है। इस प्रकार का धर्म विकास ही आध्यात्मिक विकास है। आध्यात्मिक विकास की चरम अवस्था का नाम ही मोक्ष अथवा मुक्ति है। इस मूलभूत सिद्धान्त अथवा तथ्य को समर्स्त आत्मवादी भारतीय दर्शनों ने स्वीकार किया है।

दर्शन का संबंध विचार अथवा तर्क से है जबकि धर्म का संबंध आचार तथा व्यवहार से है। दर्शन हेतुवाद पर प्रतिष्ठित होता है जबकि धर्म श्रद्धा पर अवलम्बित होता है। आचार के लिए श्रद्धा की आवश्यकता होती है जबकि विचार के लिए तर्क की आचार व विचार अथवा धर्म व दर्शन के संबंध में दो विचार धाराएँ हैं। एक विचारधारा के अनुसार अचार व विचार अर्थात् धर्म व दर्शन अभिन्न हैं। इनमें वस्तुतः कोई भेद नहीं है। आचार की सत्यता विचार में पाई जाती है एवं विचार का पर्यवसान आचार में ही देखा जाता है। दूसरी विचारधारा के अनुसार आचार व

विचार अर्थात् धर्म व दर्शन एक दूसरे से भिन्न है। तर्कशैली विचारक का इससे कोई प्रयोजन नहीं कि श्रद्धशील आचारणकर्ता किस प्रकार का व्यवहार करता है। इसी प्रकार श्रद्धशील व्यक्ति यह नहीं देखता कि विचारक क्या कहता है। तटस्थ दृष्टि से देखने पर यह प्रतीत होता है कि आचार और विचार व्यक्तित्व के समान शक्तिवाले अन्योन्याकृति दो पक्ष हैं। इन दोनों पक्षों का संतुलित विकास होने पर ही व्यक्तित्व का विशुद्ध विकास होता है। इस प्रकार के विकास को हम ज्ञान और क्रिया का संयुक्त विकास कह सकते हैं जो दुःखमुक्ति के लिए अनिवार्य है।

आचार और विचार की अन्योन्याश्रयता को दृष्टि में रखते हुए भारतीय चिन्तकों ने धर्म व दर्शन का साथ-साथ प्रतिपादन किया। उन्होंने तत्त्व ज्ञान के साथ ही साथ आचारशास्त्र का भी निरूपण किया एवं बताया कि ज्ञानविहीन आचरण नेत्रहीन पुरुष की गति के समान है। जबकि आचारणरहित ज्ञान पंगु पुरुष की स्थिति के समान है। जिस प्रकार अभीष्ट स्थान पर पहुँचने के लिए निर्दोष आँख और पैर दोनों आवश्यक है उसी प्रकार आध्यात्मिक सिद्धि के लिए दोषरहित ज्ञान व चरित्र दोनों अनिवार्य है।

भारतीय विचार-परम्पराओं में आचार व विचार दोनों को समान रूप से रखन दिया गया है। उदाहरण के लिये मिमांसा परम्परा का एक पक्ष पूर्वमीमांसा आचार प्रधान है जबकि दूसरा पक्ष उत्तरमीमांसा (वेदान्त) विचार प्रधान है। सांख्य और योग क्रमशः विचार और आचार का प्रतिपादन करने वाले एक ही परम्परा के दो अंग हैं। बौद्ध परम्परा में हीनयान और महामान के रूप में आचार और विचार की दो धारायें हैं। हीनयान आचार प्रधान है तथा महायान विचार प्रधान। जैन परम्परा में भी आचार और विचार को समान स्थान दिया गया है।

### संदर्भ ग्रन्थ :-

1. जैन धर्म दर्शन – मोहन लाल मेहता
2. दशवैकालिक – आगम प्रकाशन समिति, व्यायावर
3. आवश्यक निर्युक्ति – आगम प्रकाशन व्यायावर
4. रत्नकरण्ड श्रावकाचार
6. वसुनन्दि श्रावकाचार

